Registered No B 1463

वर्ष ६ अंक १
क्रमांक ६१

पौष सं. १९८१
जनवरी सन १९२५

वैदिकधर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल औंध (जि सातारा)

वार्षिकमूल्य — म० आ० से ३॥) वी. पी. से ४) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ६
अंक १
क्रमांक
६१

वैदिकधर्म

पौष
सं० १९८१
जनवरी
स० १९२४

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मातृभूमिका शत्रु।

योनो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभि दासान्मनसा यो वधेन। तं नो भूमे रंधय पूर्वकृत्वरि॥

अथर्व १२। १। १४

हे (पृथिवि) मातृभूमे! जो हमारा (द्वेषत्) द्वेष करेगा, (यः पृतन्यात्) जो हमारे ऊपर सैन्य से हमला करेगा, जो मनसे (अभि दासात्) हमे दास बनानेका संकल्प करेगा, और जो हमारा वध करनेका यत्न करेगा, हे (पूर्वकृत्वरि भूमे) अपूर्व उत्साह देनेवाली मातृभूमि! तू उसका (रंधय) नाश कर।

मातृभूमिका शत्रु वह है कि जो देशके सुपुत्रोंका द्वेष करता है, उनपर सैन्य से हमला चढाता है, मनमे उनको दास बनानेके ढंग सोचता है, और जो विविध शस्त्रास्त्रोंसे उनका संहार करता है। हर एक को उचित है कि वह इन शत्रुओंका नाश करे॥

एकता का पाठ ।

महाभारत और महायुद्ध ।

महाभारत में मुख्य कथा कौरव पांडवोंके आपस के भयानक घोर युद्ध की है। यहां तक इस घोर युद्ध का परिणाम हुआ है कि, समय समय पर विनोद से "महाभारत" शब्द "महा यद्ध" के स्थान पर भी प्रयुक्त किया जाता है ! इतना होनेपर भी महाभारत मे जैसा "एकताका पाठ" दिया है, वैसा किसी अन्य पुस्तकमें नहीं है, यह बात हरएक महाभारतका पाठक जानता ही है।

महाभारतमें कौरव पांडवोंकी आपस की फूट का वर्णन है, परंतु उस फूट के मिषसे "एकता का पाठ" व्यास मुनिने पाठकों को पढाया है । वेदमें कहा है कि—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व. ३-३०-३

"(१) भाई भाई का द्वेष न करे, (२) बहिन बहिनसे न झगडा करे, (३) तुम मिल जुलकर, एक कार्यमें रत होकर, कल्याण पूर्ण भावनासे आपसमें भाषण करो।"

यह वेदकी शिक्षा कौरव पांडवोंके आपसके व्यवहारमें नहीं रही, इस कारण भारतीय महायुद्धका कठोर प्रसंग उत्पन्न हुआ। यह युद्धका प्रसंग देखनेसेभी पाठकोंके मनमें यही बात जम जाती है कि, यदि ये भाई भाई आपसमें न लडते, तो ही उनका अधिक कल्याण होता। अर्थात्, "आपसके झगडोंसे आपसकी एकता ही अच्छी है।"

महायुद्धका परिणाम।

कौरव पांडवोंके महायुद्ध का परिणाम देखनेसे भी यही बोध मिलता है। कौरवोंका तो समूल उच्छेद ही हुआ, और यद्यपि देखनेके लिये पांडवों का विजय हुआ, तथापि इस विजयसे पांडवों का किसी प्रकार भी लाभ नहीं हुआ। यह विजयभी एक प्रकार का दुःख कारक ही पांडवोंके लिये हुआ, इस में संदेह ही नहीं है।

सम्राट् युधिष्ठिर तो अंततक शोक ही शोक करता रहा, अर्जुन ने इसके पश्चात् कोई विशेष पराक्रम भी नहीं किया और भीम की शक्ति भी क्षीणता को ही प्राप्त होती गई। यहां तक अवस्था पहुंच गइ थी की, अंतम अर्जुन का पराजय चोरोंके द्वारा हुआ और उस कारण स्त्रियों काभी अपमान हुआ। इधर यादव भी आपस की फूटसे और मद्य के व्यसनसे नष्ट भ्रष्ट होगये और अर्जुन के दिग्विजयके कारण किसी प्रकार भी आर्य साम्राज्यका सुख बढा नहीं!

इस भारताय महायुद्ध के कारण भारत वर्ष लाखों शूर वीर मृत्युके वशमें चले जानेके कारण यह भूमि प्रायः क्षात्र तेजसे विहीन होगई और विदेशी लोगों के लिये यहां प्रवेश सुकर होगया। यह सब घोर परिणाम हम इस समय तक भोग रहे हैं। महायुद्ध का परिणाम वीर अर्जुन जानताही था, इसीलिये वह युद्ध के प्रारम्भमें श्री कृष्ण चंद्र जीसे कहता है कि-

> न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥३१॥तस्मान्ना-र्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव। ३७ यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहत चेतसः।कुलक्षयकृतंदोषं मित्रद्रोहेच पातकं॥३८॥ कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापाद स्मान्निवर्तितुम्। कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन। ॥३९॥ कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥ अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः४१ संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च॥ ४२॥ भ. गीता. अ. १

(१) स्वजनोंको युद्धमें मार कर कल्याण नहीं देख पडता, (२) इसलिये हमें अपने ही बांधव कौरवोंको मारना उचित नहीं है। हे माधव! स्वजनोंको मारकर हम सुखी क्यों कर होंगे? (३) लोभमें जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है, उन्हें कुलके क्षयसे होने वाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि हे जनार्दन! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट देख पडता है, अतः इस पापसे पराङ्मुख होने का विचार हमारे मनमें आयेबिना कैसे रहेगा? (४) कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं और इसकारण संपूर्ण कुलही अधर्ममें पतित होता है, (५) अधर्म बढ जाने से कुलस्त्रियां बिगडती हैं, (६) स्त्रियां बिगड जानेसे वर्ण संकर होजाता है और संकर होनेसे वह कुलघातक को और कुलको नरकमें लेजाता है।"

इस रीतिसे युद्धके दोषोंका और राष्ट्र

पर होनेवाले घोर स्थायी परिणामोंका वर्णन वीर अर्जुन कर रहा है। हरएक महायुद्धसे इसी प्रकार कठोर परिणाम होते हैं। तरुण और कर्मकुशल पुरुषार्थी वीर युद्धमें मर जाते हैं और राष्ट्र में केवल बालक, वृद्ध, और स्त्रियां रह जाती हैं ! तरुणोंका नाश होनेसे तरुणी जवान स्त्रियों का प्रवृत्ति दुराचार में होजाना स्वाभाविक ही है। आचारभ्रष्ट स्त्रियोंसे जो संतति होजाजी है, वह व्यभिचारसे दुष्ट होनेके कारण शील युक्त और उच्च भावयुक्त नहीं हो सकती, इसलिये महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रका अधःपात होजाता है। राष्ट्रका शील,सदाचार और वीर्य नष्ट होता है । राष्ट्र हित की दृष्टिसे यह भयानक और अतिघोर अधःपात है। यह इतिहासिक सत्य वीर अर्जुन के शब्दोंमें ऊपर बताया है।

महाभारतीय युद्ध होनेके पूर्व कालमें जो वीर्य, उत्साह और पराक्रम की शक्ति आर्य क्षत्रियोंमें थी, वह पश्चात् के कालमें नहीं रही, इसका कारण उक्त वर्णन में ही पाठक देख सकते हैं। इतना घोर अनर्थ परिणामी युद्ध करनेके लिये श्रीकृष्णभगवान् जैसे अद्वितीय पूर्ण पुरुष अर्जुन को प्रेरित करते हैं,क्यों कि उस समय यह महायुद्ध अपरिहार्य सा हुआ था। अधर्म इतना बढ गयाथा कि, उसका परिणाम युद्धमें होना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह कि,महायुद्ध अपरिहार्य हो अथवा कैसा भी हो, परंतु उसका घोर परिणाम जनता को कई शताब्दीयोंतक भोगना ही पडता है। इसलिये श्रेष्ठ सज्जन जहांतक बन सके वहांतक युद्ध करनेसे पीछेही हटते हैं। महामना युधिष्ठिर, योगेश्वर श्रीकृष्ण आदि सत्पुरुषों ने पूर्वोक्त भारतीय युद्ध न करनेके लिये अपनी तरफसे पराकाष्ठा तक यत्न किया था, परंतु दुर्योधन की उद्दंडता के कारण युद्ध करनाही आवश्यक हुआ। इत्यादि वर्णन महाभारत में पाठक पढेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि, युद्ध का वर्णन करतेहुए भी व्यासदेव जी की परम शुद्ध बुद्धिने युद्धसे निवृत्त होने का ही उपदेश महाभारतमें किया है।

अर्थात् महाभारतका लेखन युद्धों को बढानेके लिये नहीं हुआ,परंतु महायुद्धका घोर परिणाम दिखलाकर जनता को युद्ध से निवृत्त करनेके लियेही हुआ है। इसके साधक कथाप्रसंग महाभारतमें कई है, उनका थोडासा वर्णन यहां करना है-

आपस में झगडनेवाले दो भाई।

महाभारत आदिपर्व अ. २९ में यह निम्न लिखित कथा आगई है उसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—

" एक अतिक्रोधी महर्षि विभावसु था और उसका तपस्वी भाई सुप्रतीक था। सुप्रतीक छोटा भाई और विभा-

वसु बडा भाई था। छोटे भाईकी इच्छा थी कि, पैत्रिक धन एकत्र न रहे, इसलिये वह वारंवार संपत्ति बांटनेकी बात बडे भाईसे कहता था। परंतु बडा भाई अच्छा समझदार था, वह एकतासे रहनेमें लाभ है, यह बात जानता था। इसलिये वह वारंवार छोटे भाईको निम्न लिखित रीतिके अनुसार समझाता था–

विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः। ततो विभक्तास्त्वन्योऽन्यं विकुध्यन्तोऽर्थमोहिताः ॥ १८ ॥ ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः। विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥ १९ ॥ विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथाभिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥ २० ॥ तस्माद्विभागं भ्रातृणां न प्रशंसंति साधवः। गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशंकिनाम् ॥ २१ ॥ नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ॥ २२ ॥

म. भारत, आदि. अ. २९

" भाई! बहुतेरे मनुष्य मूढ बनकर पैत्रिक धन बंटवाना चाहते हैं, परंतु बंट जाते ही धन प्राप्त होनेके बाद, धनके लोभसे मोहित हो कर आपस में झगडा करते हैं। स्वार्थी और अज्ञानी भाईयोंके अपना अपना धनका भाग ले कर अलग होते ही शत्रुलोग, अपने आपको मित्र और हितकारी बनाकर, उन भाइयों के अंदर बडा विद्वेष खडा कर देते हैं। आगे जब उन भाइयोंमें शत्रुता बढजाती है, तब वेही शत्रु उनकेही दोष निकालने लगते हैं। इससे उन भाईयों का पूर्ण नाश हो जाता है। इसी कारण साधुलोक गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञा न माननेवाले और आपसमें लडने वाले भाइयोंके अलग होनेकी प्रशंसा कभी नहीं करते। इसलिये हे भाई! तुम अपने ही भाईसे बिगड कर धनकी अभिलाषा कर रहे हो, " यह ठीक नहीं है।

यह उपदेश कितना अच्छा है। प्रत्येक स्थानके भाईयोंको यह सदा सर्वदा ध्यानमें रखना योग्य है। आज कल अदालतोंमे झगडनेवाले और वकीलोंके पेट में हाजम होनेवाले भाईयोंने यह उपदेश अपने हृदयोंमें सुवर्णाक्षरोंमें अंकित करना चाहिये। वेदमें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् ॥

अथ. ३।३०।३

"भाई भाईसे द्वेष न करे, " यह जो उपदेश दिया है, वह पाठकोंके मन में सुदृढ करनेके उद्देश्यसेही यह कथा महाभारतमें रखी है। अस्तु।

आपसके झगडनेका परिणाम।

उक्त प्रकार आपसमें झगडनेवाले

पूर्वोक्त तपस्वी भाई आपसके द्वेषके कारण दूसरे जन्ममें पशु बन गये। छोटा भाई बडाभारी हाथी बना और बडा भाई कछुआ बना। कश्यपाश्रमके निकटके सरोवरमें दोनों बडे लडते रहे! पश्चात् दोनों लडनेवाले भाईयोंको खाकर हजम करनेवाला तीसरा ही गरुड वहां आया, और उसने—

> नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् । समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः ॥ ३८॥
>
> म.भा.आदि.अ.२९

" आगे अतिवेगवान गरुड पक्षी अपने एक नखसे हाथी और दूसरे नखसेकछुएको लेकर आकाशमें उडगये। " पश्चात्—

> ततस्तस्य गिरेः शृंगमास्थाय स खगोत्तमः। भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥३०॥म.भा.आदि.अ.३०

" अनंतर पक्षीराज गरुड पहाडकी चोटीपर बैठकर हाथी और कछुआ इन दोनोंको खा गया। " इस रीतिसे आपस में झगडा करनेवाले दोनों भाई तीसरे के ही पेटमें चले गये!!! आपस के झगडे का यह परिणाम है!!

यद्यपि भगवान् व्यास देवजीने यह कथा " हाथी और कछुवे " के नामोंसे लिखी है, तथापि उसकी सत्यता मानवी समाजमें भी सत्य है। इस कथाको पढने से निम्न लिखित बातें ध्यानमें आजाती हैं—

(१) दो तपस्वी भाई आपसमें धनके लोभसे झगड रहे थे।

(२) अंतमें वे पशु बन गये, और पश्चात्—

(३) वे दोनों तीसरेके पेटमें चले गये।

आपसमें झगडा करनेवाले भाईयोंका यही परिणाम होता है। देखिये—

(१) दो भाई पैत्रिक धनके कारण आपसमें झगडते हैं-

(२) कुछ कालके बाद उनका मनुष्यपन दूर होता है और वे आपस में पशुवत् व्यवहार करने लगते हैं। अंतमें—

(३) वे दोनों वकीलों के पेटमें जाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे उनका नाश होता है।

यही सत्य राष्ट्रके इतिहासमें भी ऐसाही सत्य है, देखिये—

(१) एकदेशकी दो जातियां आपसमें लडतीं हैं,

(२) झगडते झगडते उनका आपसका व्यवहार मनुष्य पनके योग्य नहीं होता वे पशुके समान परस्पर व्यवहार करने लगते हैं, अंतमें

(३) उन दोनों आपसमें झगडने वाली जातियोंपर तीसरी जाती हुकुमत करने लगती है—

(४) इसका परिणाम दोनों जातियों की पूर्ण परतंत्रतामें होता है

और इस कारण उक्त दोनों जा-
तियां प्रतिदिन अधिकाधिक
हीन अवस्थामें पहुंचती हैं।

उपदेश।

इस कारण जैसा भाइयोंको आपसमें झगडा करना उचित नहीं है, इसी प्रकार एक राष्ट्रके निवासी दो जातियोंको भी आपसमें झगडा करना उचित नहीं है। आजकलके भारतवर्षियों को भी इस कथासे बहुत ही बोध मिल सकता है। इस देशमें अनेक जातियां और अनेक धर्म पंथ विद्यमान हैं। सबको उचित है कि, वे आपसमें एकता से रहें और मिल जुलकर आनंदके साथ अपनी राष्ट्रीय उन्नति सिद्ध करें। परंतु दुःखके साथ देखना पडता है कि, वे आपस में एकता करने की अपेक्षा आपसमें झगडा करनाही अच्छा समझते हैं! आपसके झगडे से अपनी हानि होरही है, इस प्रत्यक्ष बातको भी वे देखते नहीं। यदि ये लोग अपनी अवस्था को देखेंगे, और एकतासे रहनेमें अपना हित है यह समझेंगे, तो कितना अच्छा होगा।

इस अवस्थामें पूर्वोक्त झगडालू तापसीयोंकी कथा अत्यंत बोध-प्रद है। परंतु इस कथा से जो बोध मिलता है, वह न लेते हुए यदि कोई कहे कि यह कथा इतिहासिक सत्य घटना नहीं है, इसलिये यह एक "गपोडा" है, तो उसको क्या कहना है। इस कथाके प्रसंगमें जो कहा है, कि (१) ये दो तपस्वी भाई आपसमें झगडते थे, (२) पैतृक धन के कारण उनमें झगडा था, (३) झगडा झगडनेके कारण मनपर बहुत बुरे संस्कार हुए और वे मरनेके पश्चात् हाथी और कछुआ बने और जिस वनमें वे थे वहां भी आपसमें झगडते ही रहे, (४) हाथी की उंचाई छः योजन और लंबाई बारह योजन थी, और कछुएकी उंचाई तीन योजन और गोलाई दस योजन थी, (५) इन दो झगडालु भाइयोंको तीसरे गरुडने पकड लिया और खा लिया।

यह कथा गपोडाभी हुआ, तथापि उपदेश प्राप्त होनेके लिये जो धर्मकी सचाई चाहिये, वह इसमें विद्यमान है। उस सचाईको न देखना और हाथी तथा कछुएकी लंबाई चौडाईकी सत्यताके ऊपर वादानुवाद करना, यह एक ही बात का निदर्शक है और वह यह है, कि जिस काव्य की दृष्टिसे यह कथा या यह ग्रंथ रचा गया था, उस काव्यकी दृष्टिसे इसको कई लोग देखते नहीं हैं। यदि देखेंगे तो इस प्रकारकी शंकाएं उठही नहीं सकती।

मानलीजिये कि जो लंबाई चौडाई उक्त प्राणियोंकी इस समय होती है. उतनी ही लिखी होती, तो उक्त कथामें कौनसा बोध अधिक मिलता?

चरित्रोंकी सचाईके विषयमें कितने

विभिन्न पहलु होते हैं, यह विचारी पाठक जानते ही है। श्री० स्वामी दयानंद सरस्वती जी को प्रत्यक्ष देखनेवाले भी इस समय विद्यमान हैं। परंतु उनके जन्म स्थानके विषय में कितना विवाद हुआ था, यह प्रसिद्ध ही है। महात्मा लोकमान्य तिलक की जीवनी उनके साथ २६वर्ष रहे हुए सुयोग्य विद्वानने लिखी, परंतु उसमें लिख विधानोंकी सचाईके विषयमें महाराष्ट्रके वृत्तपत्रोंमें कितना वाग्युद्ध चला है। इसी प्रकार प्रतापी वीर शिवाजी महाराजके जीवन चारित्र जो छपेथे और जो इस समय तैयार हो रहे हैं, उनमें इतना ही अंतर है कि जितना जमीन और आसमानमें है। इन बातोंको देखनेसे पता लगमकता है कि आजकल के इतिहासोंमें भी इतिहासिक सत्य कितना है। जिसका जो भक्त होता है, वह अपनी विभूतिका चरित्र अधिक गुणसपन्न करनेकी चेष्टा करता है, सचाई की पर्वाह न करता हुआ वह अपने आदर्श पुरुष के दुर्गुणोंको भी सुद्‌गुणोंका रंग चढानेका यत्न करता है, तथा जिसके विषयमें अंतःकरणमें आदर नहीं उसके गुणोंको भी दुर्गुणोंकी शकलमें परिवर्तित किया जाता है। यह बात आजकल भी हो रही है,जो इस बातका अनुभव करेंगे उन को इतिहासिक सत्यताके विषयमें झगडा करनेका विशेष प्रयोजन नहीं रहेगा।

परंतु जो ग्रंथ "काव्य" लिखनेके उद्देश्य से ही लिखा गया हो, उसमें दस योजन विस्तीर्ण हाथी और आठ योजन विस्तीर्ण कछुआ लिखा किंवा न्यूनाधिक प्रमाणमें लिखा, तो यह वर्णन कोई महत्त्व नहीं रखता; क्यों कि इस कविकल्पित कथामें मुख्य वक्तव्य भिन्न ही होता है। इस कथाका तात्पर्य जो"भाईयों की एकता"है वह ऊपर बताया ही है। वही देखना चाहिये, न की कथाके छिलके के विषयपर व्यर्थ वादानुवाद करना योग्य है।

सगेभाई भी आपसके झगडेके कारण कैसे पशु बनते हैं, यह प्रायः हरएक पाठकने देखाही होगा। तथा आपसके झगडेसे दोनोंका नाश कैसा होता है, यह भी पाठकोंके अनुभव की ही बात है। इस सचाईको स्वयं देखना और उस को अपने वैयक्तिक,घरेलू,और राजकीय सामाजिक तथा धार्मिक आचारमें ढाल देना पाठकोंको उचित है। अस्तु। पूर्वोक्त कथामें "एकताका पाठ" मिलता है, यह बात सत्य है; इसीविषयमें महाभारतका उपदेश भी थोडासा यहां देखिये -

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं।
न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवंति।
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति॥

म.भा.उद्योग.३६।५८।

"भिन्न अर्थात जिनमें आपसमें फूट है, वे लोग न धर्माचरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न गौरव कमा सकते हैं और न शांति भोग सकते है। "

अर्थात् जिनमें आपसके झगडे हैं, उनको धर्म, सुख, गौरव तथा शांति इनमें कुछभी प्राप्त नहीं होता। परंतु आपसम झगडा बढाने वालों में अधर्म, दुःख, लघुता और अशांति रहती है। इसलिये जहांतक हो, वहांतक प्रयत्न करके आपसमें फूट रखना नहीं चाहिये। तथा और देखिये —

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तम्। योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्॥ भिन्नानां वै मनुजेंद्र पराय णम्। न विद्यते किंचिदन्य द्विनाशात्॥

म. भा. उद्योग. ३६।५७

" जो आपसमे झगडा करते हैं, उन को हितकर उपदेश भी पसंद नहीं होता उनका योगक्षेम ठीक नहीं चलता, तात्पर्य यह है कि, जो मनुष्य आपसमे झगडते हैं, उनका निःसंदेह नाश हो जाता है। "

अर्थात् जिनमें आपसकी फूट है, उस जाति की कदापि उन्नति नहीं हो सकती इस लिये उन्नति चाहनेवाली जातिको उचित है कि, वे आपसमें झगडा न रखें और आपसमें एकताका बल जितना बढ सकता है, बढा दें। इसका एक उदाहरणभी महाभारतमें दिया है—

धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च॥ धृतराष्ट्रोल्मु कानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥

म.भा.उद्योग. ३६।६०

"हे धृतराष्ट्र राजा! जिस प्रकार चूल्हेमें लकडियां इकट्ठीं जुडी रहनेसे जलती है परंतु अलग अलग रखनेसे धूवां उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार ज्ञातियों की अवस्था है।"

इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार लकडियां इकट्ठीं रखनेसे जलकर प्रकाशमय होती हैं और अलग अलग रखनेसे धूवां उत्पन्न करती हैं, ठीक उस प्रकार जातियोंमें एकता होनेसे उस जातिका तेज फैलता है और आपसमें फूट और विविध झगडे होनेसे उस जातीका तेज नष्ट होता है। यह जातिकी उन्नति और अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको अवश्यमेव ध्यानमें रखना चाहिये।

महाभारत " जातीय एकता का पाठ " इस ढंगसे दे रहा है। और भी देखिये—

सुंद और उपसुंदकी कथा।

आर्य लोगोंका विद्या अभ्यासका क्रम देखनेसे पता लगता है कि, वे जिस प्रकार आर्य वीरोंका इतिहास

पढते थे, उसी प्रकार असुर और राक्षसों का तथा अन्यान्य जातियोंका भी इतिहास वे जानते थे। महाभारतमें भी राक्षसों की कथाएं इसी लिये दीं हैं, इसमें हेतु यह है कि, आर्य लोक "कूप-मण्डूक" के समान न रहें, परंतु अन्यान्य जातियों की विद्याएं देखकर उस सब इतिहाससे जो उत्तम उपदेश लेना है, वह लेकर उसका उपयोग अपनी उन्नति-में करें। "एकताके पाठ" में जिस प्रकार पूर्वोक्त झगडालू तपस्वियों की कथा देखने योग्य है, उसी प्रकार सुंद और उपसुंदकी कथा भी देखने योग्य है। यह कथा इस प्रकार है —

सुंद और उपसुंद।

महा असुर हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुंभ नामक असुर का जन्म हुआ। उसके पुत्र सुंद और उपसुंद थे। उनका जीवन क्रम देखिये कैसा था -

सुंदोपसुंदौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥३॥तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसंमतौ। निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४॥ विनाऽन्योन्यं न भुंजाते विनाऽन्योन्यं न जग्मतुः । अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥ एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथाकृतौ। तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ॥ ६॥ त्रैलोक्य विजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ॥

म.भा.आदि.२११

"उन दो दैत्यपुत्रोंमें एक का नाम सुंद और दूसरे का नाम उपसुन्द था। वे दोनों सदा एकही विषयमें संमत, एकही विषयमें दत्तचित्त, और एकही कार्यके करनेवाले होके समान सुख दुःख समझ कर अपना समय व्यतीत करते थे। दोनों एक दूसरेको प्यारी बोली बोलते थे। और एक दूसरेका प्रियकार्य करते थे। एक भाईके विना दूसरा भाई भोजन वा गमन नहीं करता था। उन दो भाईयों-के स्वभाव और व्यवहारमें भेद न रहने-के हेतु जान पडता था, कि मानो, एक मनुष्य दो भागों में बट गया है!! हर काममें एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बडे वीर्यवंत भाई क्रमसे बढ गये। वे तीनों लोक जीतना निश्चय कर उस कार्यको करने लगे।"

इस प्रकार वे बढ गये। उनके बढने का हेतु "आपसकी एकता" ही है। देखिये उनकी एकताका स्वरूप—

एकताके सात नियम ।

(१) एकही विषयमें सहमत होना ।
(२) एक ही विषयमें दत्तचित्त होना।
(३) एकही कार्य एकविचारसे और अपने पूरे प्रयत्नसे करना।
(४) सुखदुःखमें समान हिस्सेदार होना।

(५) परस्पर मीठे शब्दों से संभाषण करना।

(६) परस्परका प्रिय करनेका यत्न करना।

(७) स्वभाव और व्यवहार परस्पर अनुकूल रखना।

ये सात बातें उक्त श्लोकोंमें कहीं हैं। इनसे परस्पर मित्रता बढती है। भाई भाईमें, मित्र मित्रमें, दो जातियोंमें तथा दो राष्ट्रोंमें यदि मित्रता होगी, तो इन सात नियमोंके अनुकूल रहनेसे ही होगी, अन्यथा संभव नहीं है। आजकल आपस में झगडा करने वाले हिन्दु और मुसलमान ये राष्ट्रभाई इन सात नियमों को स्मरण रखें और इनको अपनानेका यत्न करें। इन नियमोंके पालन होनेसे-ही इन दो जातियों में एकता हो सकती है। उक्त सात नियमोंके बिलकुल विरोधी व्यवहार जबतक होता रहेगा तबतक एकता कैसी उत्पन्न होगी और स्थिर भी किस ढंगसे होगी?

पूर्वोक्त दोनों भाई सुंद और उपसुंद आपस की एकताके कारण वीर्यवान और बलवान बनकर त्रैलोक्यका विजय करने लगे। ऐक्य के बलके कारण उनका सर्वत्र विजय होता गया और उनके उग्र वीर्यके कारण उनको डर दिखानेवाला कोई नहीं रहा। देखिये —

त्रिषु लोकेषु यद्भूतं किंचित्स्थावरजंगमम्। सर्वस्माद्वौ भयं न स्याद्दतेऽन्योऽन्यं पितामह॥

म.भा.आदि.२११।२५

"हम दोनोंको एक दूसरेके विना इस त्रिलोक भरमें स्थावर जंगम आदि किसीसे मृत्यु का भय न रहे।"

यही अवस्था आपसकी एकता के कारण उनको प्राप्त हो गई और उनका दिग्विजय सर्वत्र होगया। देखिये—

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा। निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः।

म.भा.आदि२१२।२७

"वे इस प्रकार कुटिल और क्रूर कार्यसे सब दिशाओंमें विजय प्राप्त कर अंत में शत्रुवर्जित हो कर कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे।"

यह जो दिग्विजय सुंद और उपसुंदको प्राप्त हुआ इसका मूल कारण उनकी आपसकी एकता ही है। आर्य देश, गंधर्व देश, और देवलोक आदि सब राष्ट्रोंको उन दोनों भाइयोंने परास्त किया था और संपूर्ण त्रिलोकीमें अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार दिग्विजय करनेवाले दोभाइयोंमें आपसका झगडा खडा करने के लिये तिलोत्तमा नामक एक अप्सरा देवोंकी ओर से भेजी गई, जिसका सुंदर स्वरूप देख कर वे दोनों सुंद और उपसुंद काम मोहित होकर, उस स्त्रीके कारण आपस

में लडने लगे और जब उनमें आपस-का झगडा हुआ, तब उनका पूर्ण नाश होगया देखिये—

उभौ च कामसंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥२२॥दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुंदो जग्राह पाणिना। उपसुंदोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥ वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च। धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥ सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ। मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥ एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ । तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजग्मतुः॥२६

म.भा.आदि.२१४

"वे दोनों कामवश होकर के उस नारी के पास गये और दोनों ने उसपर मन चलाया। सुंदने अपने हाथसे उस सुंदरीका दहिना हाथ थाम लिया, और उपसुंदने उसका बायां हाथ पकडा। वे वर पाने से गर्वित, अपने भुजवीर्य के गर्वमे घमंडयुक्त, और धन रत्नों के अहंकार से उन्मत्त थे ही; फिर तिसपर दोनों मद्य और काम के नशे से बावलों के समान बने थे। सो एक दूसरे की ओर भौंह चढायके झगडने लग तात्पर्य सुंद और उपसुंद दोनों भाई मित्र भावयुक्त और हर बातमें सहमत होनेपर भी तिलोत्तमा के लिये क्रोधित होकर आपसमें झगडा करने से पूर्णतासे नष्ट होगये।"

इस रीतिसे एकताके कारण बल बढता है और आपसकी फूटके कारण बल घटता है।

यह कथा पांडवोंको भगवान् नारद मुनिने कही थी और उनको आपसमें न झगडनेका पाठ दिया था। देखिये ऋषि मुनि भी राक्षसोंका इतिहास पढते थे तथा उससे लेने योग्य बोध लेते थे और उसका उपदेश अपने आर्य वीरों को करते थे ! अन्य देशोंके और अन्य जातियोंके इतिहास पढनेका तथा शत्रुसे भी विद्याग्रहण करनेका महत्त्व कितना है, यह यहां पाठक देख सकते हैं।

यहां विशेष देखने योग्य बात यह है कि, सुंद और उपसुंद नामक राक्षसोंकी कथा "आपसकी एकता का प्रतिपादन" करनेके लिये दी है और महाभारत की कथा कौरव पांडवोंकी "आपस की फूट" का वर्णन करनेके लिये बतायी है। एकताके बल के कारण राक्षसोंका बल कैसा बढगया था और आपसकी फूटके कारण आर्य जाती का कैसा नाश हुआ, यह उक्त कथाओंमें अर्थात् उक्त तपस्वियोंकी कथामें तथा कौरव पांडवों की कथामें देखिये यदि

कौरव पांडव एक मतसे राज्य करते, तो त्रिलोकीको जीत लेते; परंतु आपसकी फूटके कारण आर्यजातीकाही कैसा नाश हुआ, यह बात यहां विशेष विचारसे पाठक देख सकते हैं। इसीविषयमें एक उत्तम उदाहरण मार्कण्डेय पुराणमें आगया है वह भी सारांशसे यहां देखना उचित है—

महिषासुर ।

देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा। महिषेऽसुराणामधिपे देवानां च पुरंदरे ॥१॥
तत्रासुरैर्महावीर्यैर्देवसैन्यं पराजितम्। जित्वा च सकलान्देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः॥२॥ मार्कण्डेयपुराण अ.८२

" पूर्वकालमें देवों और असुरोंका युद्ध पूर्ण सौ वर्षतक हुआ उसमें देवोंका सेनापति इन्द्र था और राक्षसोंका महिषासुर था। युद्ध के अंतमें देवोंका पूर्ण पराभव हो गया और महिषासुर देवोंके राष्ट्रका सम्राट् बनगया। "

अपना पराजय होनेके पश्चात् देव भाग गये और श्रीशंकर और श्रीविष्णु के पास गये। देवोंने अपने पूर्ण पराजय का वृत्तांत भगवान विष्णुसे कहा और अपनी शोचनीय अवस्था का वर्णन उन के सन्मुख किया। उस समय भगवान शंकर और विष्णु के अन्दरसे एक विलक्षण तेज बाहर निकल आया। उस दिव्य तेज में संपूर्ण देवोंने अपने अपने तेजों का अंश मिला दिया। देखिये इसका वर्णन—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्। एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥
मार्कण्डेय पुराण अ. ८२।१२

"सब देवोंके शरीरोंसे निकले हुए तेजों का मिल कर एक स्त्रीरूपी अत्यंत तेजस्वी शरीर हुआ। जिसके तेज से त्रैलोक्य व्याप्त हुआ। "

इस तेजोमय स्त्री देवीने असुरोंका पराभव करके फिर देवोंका साम्राज्य शुरू किया।

अर्थात् आपसकी फूट के कारण देवोंका पराभव हुआ और जब देवोंने अपने तेज और वीर्य का एक संघ बना दिया, तब उनके सामने राक्षस पराभूत होगये। पूर्वोक्त वर्णन में हरएक देवने अपना तेजस्वी अंश भेजा, संपूर्ण देवोंके तेजोंका एक महान " संघ " बना और उस संघने राक्षसोंका पूर्ण पराभव किया। इस वर्णन का अलंकार हटाया जाय, तो कथाका मूल स्वरूप स्पष्ट विदित होता है।

जिस समय देवोंके अंदर आपसमें एकता नहीं थी, हरएक देव अथवा हर एक देवोंका गण किंवा देवोंकी जाति, अपनी अपनी घमंडमें रहकर अलगही रहती थी, उस समय राक्षसोंके सामने

देव ठहरही नहीं सकेथे। परंतु जिस समय देवोंको आपस की फूटका पता लगा और अपना संघ बननेके बिना अपना जीनाभी अशक्य है, यह बात देवोंके ध्यानमें आगई, तब उन्होंने अपना एक बडा अभेद्य संघ बना दिया, सब देवोंने अपनी अपनी शक्ती पूर्णतासे लगादी और देवराष्ट्र को जीवित रखनेके लिये हरएक देवने अपनी पूर्ण पराकाष्ठा की। इससे देवोंमें-अर्थात तिब्बत् (त्रिविष्टप्) के वासियोंमें बडी विलक्षण संघशक्ति बनी, उनका बल बढ गया और इसकारण वे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सके और अपने नष्ट हुए साम्राज्यको पुनः प्राप्त कर सके। तात्पर्य यह है कि, जबतक आपसमें फूट रहेगी तब तक न तो कौटुंबिक सुख मिलेगा, और ना ही राष्ट्रीय उन्नति प्राप्त होगी।

देवासुरोंके शताब्दी युद्ध (Hundred years war) के वर्णनसे हमें यही उपदेश मिलता है। इतना बोध लेकर निम्नमंत्र देखिये—

> संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋ.१०।१९१।२

" हे सज्जनो! तुम (संगच्छध्वं) आपसमें एकता करो,(संवदध्वं)आपसमें उत्तम भाषण करो, और अपने मनोंको सुसंस्कार संपन्न करो, तथा जिसप्रकार प्राचीन ज्ञानी अपने भाग्य की उपासना करते थे उसीप्रकार तुम भी किया करो"

तथा—

> समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ.१०।१९१।४

"हे लोगो। तुम्हारा संकल्प, तुम्हारा हृदयका भाव, तुम्हारा मन अर्थात तुम्हारा सब व्यवहार समान अर्थात सबके साथ यथायोग्य हो, जिससे तुम एकतासे रह सकोगे।"

यह वेदका उपदेश पूर्वोक्त एकताका ही पाठ दे रहा है और इसी को पाठकोंके मनपर पूर्ण रूपसे प्रतिबिंबित करनेके लिये पूर्वोक्त इतिहासिक कथाएं, तथा काव्यमय इतिहासिक वर्णन हैं। इस दृष्टिसे उक्त कथाएं पढीं और समझीं जाय, तो कथाओंका स्वारस्य समझमें आजायगा। और महाभारत के काव्यमयइतिहास का महत्त्व ध्यानमें आवेगा।

इस लेखमें (१) तपस्वी दो भाइयोंकी कथा, (२)सुंद और उपसुंद की कथा, (३) महिषासुरका आख्यान, इनका वर्णन संक्षेपसे दर्शाया है, और (४) महाभारतकी कथा सबको विदित ही है। इन चार कथाओंकी विशेषता यह है, देखिये—

(१) तपस्वी भाइयोंकी कथा—
दो तपस्वी आर्य भाइयोंका आपस में झगडा हुआ और दोनोंको तीसरेने आकर भक्षण किया।

(२) पांडवकौरवोंकी कथा—
दो भाई-कौरव पांडवों का आपसमें झगडा होगया और आर्य जातीके प्रमुख वीरोंका संहार होकर आर्य जातीका बडा नाश हुआ।

(३) सुंद और उपसुंद की कथा—
दो राक्षस भाई आपसमें पूर्ण एकतासे रहनेके कारण त्रैलोक्य में विजयी होगये। परंतु उनमें आपसका झगडा होने पर ही उनका नाश हुआ।

(४) महिषासुर की कथा—
देवों के अंदर आपस में एकता नहीं थी, ऐसे समयमें महिषासुर नामक असुर देशीय राजा ने देवराज्य पर हमला करके देवोंका पराभव किया। पश्चात् देवोंने अपनी संघशक्ति बढाई और पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की।

ये चारों कथाएं अगर पाठक ध्यानसे पढेंगे तो उनके ध्यानमें उसी समय आजायगा कि (१) आर्य तपस्वीयोंमें झगडा, (२) आर्य राजाओंमें आपसकी फूट, (३) देवोंमें संघशक्तिका अभाव, इत्यादि बातें उक्त कथाओंमें वर्णन की हैं।

साथ साथ (१) असुरों और राक्षसों में अपूर्व संघशक्तिका होना, (२) बल और वीर्य में उनका अधिक होना, (३) प्रायः प्रारंभमें असुरोंका विजय होना, इत्यादि वर्णन है।

इससे यह अनुमान करना अनुचित होगा कि, उस समयके सभी आर्य निकम्मे थे और सब असुर साधु थे। परंतु इस वर्णन का उद्देश्य और ही है। जो महान कवी अपनी जातिके उद्धार के लिये महाकाव्य निर्माण करता है, वह विषेश हेतुसे कथाओं, आख्यानों और उपाख्यानों का संग्रह करता है। अपनी जाति की उन्नति किस ढंगसे होगी, अपनी जातीमें कौनसे दोष हैं, अपने शत्रुओंमें कौनसे गुण हैं, इसका विचार वह कवि करता है और अपना काव्य लिखता है। महामना व्यास भगवान असाधारण कवि और अलौकिक बुद्धिमत्ता तथा विलक्षण विद्वत्ता से युक्त थे। इसी कारण उन्होंने अपने अपूर्व काव्य में--अर्थात् इस महाभारत में विलक्षण चातुर्यसे कथाओंका सिलसिला रखा है। पाठक यदि महाभारत पढते पढते सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करेंगे, तो उनको इस काव्यके स्वारस्य का पता उसी समय लग जायगा।

उन्नतिका सीधा मार्ग ।

शत्रुजाति की अपेक्षा अधिक गुणोंसे युक्त होनेसे ही उन्नति हो सकती है। शत्रुके अंदर जिन विशेष गुणोंके कारण बल बढा होता है, उन गुणोंको अपने अंदर प्राप्त करना चाहिये, और बढाना चाहिये। तथा अपने अंदर जिन दुर्गुणों के कारण बलकी क्षीणता होनेकी संभावना है, उनको दूर करना अत्यंत आवश्यक है। अपने अंदर से दुर्गुणोंको दूर भगाना और अपने में सद्गुणोंकी अधिकता स्थिर करनेसे ही उन्नति हो सकती है।

इस लिये महाकवी शत्रुके गुणोंका वर्णन अधिक स्पष्ट रूपसे करते हैं, ताकि उन गुणोंका प्रतिबिंब अपनी जातिके लोगोंके अंतःकरणों पर स्पष्ट रीतिसे पडे और उन शुभ गुणोंका ग्रहण अपनी जाति करे और उन्नति प्राप्त करे, साथ साथ वे अपनी जातिके दुर्गुणोंका वर्णन भी थोडा बढा कर करते हैं, जिससे अपनी जातिके दुर्गुणोंका पता स्वजातियोंको लगे और वे उन दुर्गुणोंको दूर फेंककर निर्दोष बनकर अपनी उन्नति करें।

शत्रुके गुण देखना, उनको अपनाना, और बढाना, तथा साथ साथ अपने दोष दूर करके अपनी उन्नति करनी, यही उन्नति का सीधा मार्ग है। इस दृष्टिसे पूर्वोक्त चारों कथाओंमें आर्यजातीके दोष और शत्रुभूत असुर जातिके गुण वर्णन किये गये हैं। और इस वर्णनमें इस लिये थोडी अत्युक्ति की है कि वक्तव्य बात पाठकों के मन में स्थिर हो जाय।

आर्य जातीके वीर पुरुषोंमें धैर्य वीर्य शौर्य आदि प्रशंसनीय गुणोंका वर्णन महाभारतमें सर्वत्र है ही। यदि यहां वर्णन न होता और केवल स्वजातीके दोषों से ही यह ग्रंथ लिखा होता तो इसके पढनेसे पाठकोंका उत्साह नष्ट हो जाता। परतु महाभारत पढने से उत्साह बढ जाता है। इसका कारण यह है कि, स्वजातीके दुर्गुण अत्युक्तिके साथ वर्णन करते हुए भी उनको गौण स्थान दिया है और स्वजातिके महत्वके गुणोंका वर्णन प्रधान स्थानमें किया गया है। इस लिये इस महाभारत के पाठ का परिणाम पाठकोंके मन पर बडा ही उच्च और उदात्त होता है। अस्तु।

महाभारत ग्रंथ " एकता का पाठ " सिखाता है। इस पाठका ढंग इस लेखमें बताया है, पाठक अब अन्यान्य कथाओंका विचार करके अधिक बोध प्राप्त करें।
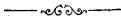
वीर्य और आनंद। (लेखक-श्री. जयंत जी)

वीर्य और आनंद का पारस्परिक संबंध क्या है इस बात को बतलाने के पहिले वीर्य्य क्या है, और वस्तुतः आनंद क्या वस्तु है, इन विषयों पर कुछ वक्तव्य है ।

(१) वीर्य।

जिस पदार्थ में चाहे वह जलवत द्रव हो या पत्थरवत् कठोर हो, या वायुवत् हो, शरीर के प्रत्येक अवयव का सार हो उसे उस शरीर का वीर्य कहते हैं। जिसमें मनुष्य के प्रत्येक अवयवों का सार हो, उस पदार्थ को मनुष्य का वीर्य कहते हैं ।

यदि इस वीर्य्य में उस शरीर के सब तत्त्वों का सार न होता, तो उसके समान शरीर की उत्पत्ति होना भी असंभव थी । वीर्य्य में न केवल हमारे प्रत्येक तत्त्वों का सार रहता है, परंतु हमारे प्रत्येक, क्रिया, मन, विचार, गुण, कर्म्म, स्वभाव, रूप, रंग, शील इत्यादि का भी संस्कार कारण रूप में रहता है । यदि सिंह के वीर्य्य में हिंसक भाव की क्रिया विद्यमान न होती, तो हिंसक स्वभाव वाला सिंह बालक कदाचित् भी उत्पन्न न होता। कोयल के वीर्य्य से मधुर स्वर उसके बच्चों में न आता, कुत्ते के वीर्य्य से उसके बच्चों में स्वामिभक्ति कभी न आती यह केवल वीर्य्य का ही कारण है, जिससे गुण, कर्म्म, स्वभाव एक से दूसरे शरीर में उत्पन्न होते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि जिस पदार्थ में हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव का सार और विचार, मन, इंद्रिय, गुण, कर्म्म, स्वभाव इत्यादि का संस्कार विद्यमान हो, उसे वीर्य्य कहते हैं, या जिस पदार्थ में मनुष्य शरीर के प्रत्येक अवयव, मन, इन्द्रिय इत्यादि को उत्पन्न करने की शक्ति हो, उसे वीर्य्य कहते है।

(२) आनंद।

आनंद कोई एक व्यक्ति नहीं, कोई शरीर धारी वस्तु नहीं, जिसे लाकर बतला दिया जाय । परंतु आनंद स्वभावके अनकूल "इच्छाकी पूर्ति" को कहते हैं और स्वभाव के प्रतिकूल कार्य्य का होना "दुःख" कहाता है । बहुधा लोग कहा करते हैं, कि आनंद तो विषय भोगों में है, परंतु यह उनर उन की अज्ञानताका है । आनंद जैसे मैं कह चुका हूं, स्वभावानुकूल इच्छा की पूर्ति को कहते हैं, परंतु इच्छा की पूर्ति बिना मानसिक एकाग्रता के होना सर्वदा असंभव है; इसलिए मानासिक एकाग्रता को ही आनंद कहते हैं । अज्ञानी मनुष्य को यह ज्ञात है, कि हमेशा हमें विषयों से आनंद मिलता परंतु यह गलती है ।

यदि मनुष्य नशे की आदतवाला हो, तो दुःखके समय वह नशा अवश्य ही मांग लेता है, क्यों कि उसके बिना उसके चित्तकी एकाग्रता नहीं होती । जिस प्रकार बालू से तेलका निकलना, हलाहल विष से अमरत्व पाना असंभव है, इसी प्रकार असत्, अप-

चित्र जड एवम् दुःखरूप विषयों से आनंद का पाना नितान्त असंभव है। जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डियों को चबाता है, हड्डिके कठोर होने के कारण उसके जीभ से खून निकलने लगता है और वह रक्तका पान करता हुवा कहता है, कि यदि मैं इन हड्डियों को ही खाया करूं, तो शीघ्र ही बलिष्ठ बन जाऊंगा, परंतु वह मूर्ख यह नहीं सोचता, कि स्वाद आनंद तो मेरे ही रक्त से मेरे जीभ को आरहा है, हड्डीसे नहीं! इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य यह समझते हैं, कि हमें विषयों से आनंद आरहा है, परंतु यह नहीं समझते, कि आनंद तो हमारे ही वीर्य्य में था, जिसके जाने पर आनंद भी जाता रहता है। इससे सिद्ध है, कि इच्छित पदार्थों की प्राप्तिके समय यावत् वीर्य्य शरीर में रहकर चित्त की एकाग्रता करता रहा, तब तक आनंद रहा और तृष्णा की निवृत्ति होती रही। जब वीर्य ने प्रयाण कर शरीर को छोड दिया उसी समय तृष्णा ने आकर फिर दबाया। यहां यह सिद्ध हुआ, कि क्षय, और अपवित्रता जिस में हैं, ऐसे विषयों में किंचित् भी सुख नहीं, परंतु सुख तो वीर्य्य का संगठन करने से प्राप्त हो सक्ता है। जिसके रहनेसे तृष्णा की निवृत्ति, आरोग्य और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

(३) जीवन।

प्राण और मन की एकाग्रावस्था को जीवन कहते हैं, इनकी एकाग्रता केवल ब्रह्मचर्य्य से ही हो सक्ती है। कोई भी मनुष्य जीवन की क्षती को आनंद नहीं मानता, अतएव सिद्ध होता है, कि ब्रह्मचर्य्य ही सच्चा सुख है।

(४) प्रत्येक इंद्रिय में ग्रहण शक्ति होती है, जैसे जीभ में स्वादिष्ट पदार्थों के सूक्ष्म अणुओं की ग्राहक शक्ति है,

जैसे कान से शब्द ग्राह्य होता है, इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय के ज्ञान तंतुओं में वीर्य्य के सूक्ष्म परमाणु ओं के ग्रहण की शक्ति है। मनुष्य जिसको ग्रहण कर आनंद पाता है, वह वीर्य्य के परमाणु ओं का ग्रहण है। इस से भी सिद्ध होता है कि सुख ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सक्ता है।

(५) अन्न और स्वभाव में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है, अन्नसे वीर्य्य में स्वभावका संस्कार होना प्रथम सिद्ध किया जा चुका है। इस लिए वीर्य्य और स्वभाव का भी संबंध सिद्ध होता है। अन्न के समान स्वभाव के भी राजसिक, सात्विक और तामसिक तीन भेद हैं। स्वभावानुकूल कार्य्य की पूर्ति में आनंद होता है, परंतु विना इच्छा के कोई कार्य्य नहीं घटता। इच्छा हमेशा नीचे से उपर की ओर उठती है, इसी कारण स्वभावानुकूल प्राप्तिसे समानता, निकृष्ट के योग से दुःख, और उत्तम के संबंध से आनंद प्राप्त होता है। जैसे एक कृषिकार को उसका दैनिक भोजन देने से न आनंद और न दुःख होता है, क्यों कि वह उसके स्वभाव

के समान है, और यदि उसको कुछ उत्तम भोजन दिया जाय तो वह आनंद मानता है। इसी प्रकार यदि राजसिक भोजन करने वालों को तामसी भोजन दिया जाय, तो दुःख होता है और सात्विक भोजन से सुख होता है। इससे भी सिद्ध होता है, कि बार बार किसी पदार्थ का भोग करने से उसके आनंद की ग्राह्य शक्ति नष्ट हो जाती है। वीर्य के सूक्ष्म परमाणुओं को ग्रहण कर आनंद प्राप्त करने की शक्ति हमारे अंदर विद्यमान है, ऐसा पूर्व बताया जा चुका है। इससे भी सिद्ध होता है, कि वीर्य्य को पवित्र रह कर उसके बढाने से ही आनंद नित्य बढ सक्ता है, यही कारण था कि हमारे पूर्वज ऋषि ब्रह्मचर्य पर अधिकाधिक जोर देते थे। वे इस सिद्धांत को जानते थे, और वीर्य के कम व्यय से अधिक आनंद उठाने का उपदेश करते थे। वीर्य की हीनता से आनन्द किस प्रकार नष्ट हो जाता है, यह इस सिद्धांत से स्पष्ट हो गया है। आप जिस आनंद की प्राप्ति के लिए रात दिन परिश्रम करते हैं, नाना प्रकार के असह्य कष्टों को सहन करते हैं, परंतु हाय हाय कहते हुए ये शब्द कातर और दयामयी वाणी से उच्चारते है कि "संतोष नहीं मिला, संसार दुःखदायी है।" पाठकों से आग्रह पूर्वक निवेदन है, कि यदि वे मनुष्य है पशु पक्षियों से अधिक बुद्धि और ज्ञान रखते हैं, तो विचारें कि आज कल के सामयिक युग में मनुष्य आकिने पशु पक्षियों से भी अधिक पाप कर दैविक शक्तियों पर किस प्रकार कुठाराघात किया है; तिस पर भी कहते हैं, कि हममें ज्ञान अधिक है!! सज्जनो! आप चाहे जिस धर्म्म के अनुयायी हों, चाहे आपके सिद्धांत हमसे कितने भी भिन्नता रखते हों, परंतु यह बात आग्रह पूर्वक कहूंगा कि दुनिया की जितनी जातियों ने जितने धर्मावलंबियों ने जो कुछ भी उन्नति की है, वह ब्रह्मचर्य द्वारा ही की है। जिसने ब्रह्मचर्य का आश्रय नहीं लिया, वह संसार में कुछ भी नहीं कर सका है। इसकी पुष्टता के लिए सारे संसार के इतिहास आपके सन्मुख विद्यमान है। जो वीर्य्य का नाश कर रहे हैं। वे अपना नाश ही नहीं, अपि तु अपनी जाति, समाज, राष्ट्र, धर्म, तथा अपनी आत्मा का नाश कर रहे हैं, और परमेश्वर के दिए हुए इस सुखरूप शरीर को मृत और दुःख का आगर बना रहे हैं! क्या ब्रह्मचर्य से किसी की भी हानि होते देखी गयी है? यदि नहीं, तो ब्रह्मचर्य से बढकर मनुष्यमात्र का परम कर्तव्य और धर्म्म का प्रथम सोपान कौनसा हो सक्ता है? इसलिए भाइयो! यदि धर्म और कर्तव्य की पालना करना है, धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक उन्नति करना है, तो ब्रह्मचर्य को अपनाओ और शिक्षा में ब्रह्मचर्य को प्रथम स्थान दो।

ऋषियोंकी शिक्षा पद्धति ।

शरीरके बल की अपेक्षा हरएक मनुष्य के लिये शरीरके स्वास्थ्यकी अत्यंत आवश्यकता है । क्योंकि शरीर "स्वस्थ" न रहा और उसमें नाना प्रकार के रोग रहे, तो "जीवन का आनंद" प्राप्त होना अशक्य ही है । इस लिये कहा है कि

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

"धर्मका साधन—धर्मका मुख्य साधन —निश्चयसे शरीर की स्वस्थता अर्थात् शरीरका आरोग्य ही है ।" यह हरएक मनुष्यका अनुभव है, कि जिस समय शरीर की स्वस्थता नहीं रहती, उस समय न तो वह मनुष्य किसी कार्य को पूर्णरूपसे कर सकता है,और यथाकथंचित् कार्य पूर्ण होनेपर —अथवा विजय प्राप्त होने पर भी—उस विजय का यथा योग्य आनंद उसको मिल नहीं सकता; क्यों कि विजय का आनंद अनुभव करनेके लिये भी शरीरका स्वास्थ्य अवश्य ही चाहिये ।

आज कल अपने भारत भूमिमें कितने ऐसे सुपुत्र हैं, कि जो तारुण्य में ही वृद्ध दिखाई देते हैं ! कई ऐसे है, कि जो अस्वास्थ्यके कारण अपना विद्याभ्यास ही परिपूर्ण रूपसे नहीं कर सकते । कई ऐसे हैं, कि जो विद्याभ्यास समाप्त करते ही मृत्यु के अतिथि बन चुके है ! कई ऐसे हैं, कि जो थोडासा कार्य प्रारंभ करते ही इह लोकसे प्रस्थान करनेकी तैयारी करने लगता है !

प्रिय पाठको ! विचार तो कीजिये, कि यह देशकी और जाती की कितनी हानि हो रही है ! हरएक तरुण के विद्या कमाने के लिये जितना व्यय होता है, वह देशका धन है, यदि विद्या पढ चुकनेके पश्चात् उस तरुणकी आयुका क्रमसे कम पचास साठ वर्ष राष्ट्र को उपयोग न हुआ, तो उस राष्ट्र की कितनी हानि हुई? इस दृष्टिसे विचार कीजिये, कि अपने राष्ट्रकी हानि इस समय कितनी हो रही है, और उससे बचनेका कौनसा उपाय आप आज ही प्रारंभ कर सक्ते हैं । यह विचार करना आपका आजका कर्तव्य है ।

आज कल पाठशालाओं में विद्या तो देते हैं, परंतु उस विद्याका परिणाम केवल मन तक ही रहता है। विद्याका सुसंस्कार जो हृदय पर होना चाहिये, वह आज कल की विद्यासे नहीं होता है, और ना हीं शरीर स्वास्थ्य सुधरता है; प्रत्युत निश्चय से कहा जाता है, कि शरीर स्वास्थ्य उसी कारण बिगडता भी है।

हृदय
मन
शरीर

यह क्रम है। सुदृढ शरीर में सुसंस्कृत विद्यासंपन्न मन रहा और भक्तियुक्त अंतः-करण बना, तो ही वह मनुष्य कुछ कार्य कर सकता है। परंतु आज कल की विद्या प्रणाली ऐसी है, कि जिससे मन पर विद्याका बोझ बढता है, उस कारण शरीर निर्बल होता है, और हृदय संस्कार हीन ही रह जाता है! यह विषय इतना गंभीर और अत्यावश्यक है, कि इसका विचार आज कल के बडे बडे विद्वानों को अति शीघ्र करना चाहिये। विद्याका जो फल हमारे ऋषिमुनियोंने कहाथा, वह आजकल बिल-कुल दिखाई नहीं देता। देखिये आर्ष दृष्टिसे वि-द्याका फल यह होना चाहिये —

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह
वीर्यं करवावहै। तेजस्विना
वधीतमस्तु मा विद्विषाव है॥
तै.आ.८।१।१

(अर्थात्) अध्ययन किया हुआ हमारा ज्ञान हम दोनों की (अवतु) रक्षा करे, हम दोनों को (भुनक्तु — भोजयतु) खान पान के पदार्थ देवे, इस ज्ञानसे हम दोनों मिलकर (वीर्यं करवावहै) पराक्रम करें, हमारा ज्ञान तेजस्वी होवे और इस ज्ञानसे हम दोनों आपसमें (मा विद्विषावहै) द्वेष न करें।

अर्थात् अध्ययन किये हुए ज्ञानसे समाजके दोनों प्रकारके (१) लागोंका रक्षण होना चाहिये, (२) सबको भोजन मिलना चाहिये, (३) मिलकर पराक्रम करनेकी शक्ति बढनी चाहिये, (४) तेजस्विता बढनी चाहिये, (५) और आपसमें द्वेष नहीं रहना चाहये, ज्ञानसे ये पांच फल मिलने चाहियें! परंतु आजकल की विद्यासे इनमेंसे कौनसा फल मिल रहा है, क्या इस आज कलकी विद्यासे अपनी रक्षा करनेकी शक्ति पढनेवालों में बढ रही है? क्या भोजनके सवाल का हल हो रहा है? क्या तरुणोंमें मिलकर पराक्रम करनेकी शक्ति बढ रही है? क्या उनमें तेजस्विता दिखाई देती है? अथवा आपसका द्वेष कम हुआ है? पाठक गण! विचार तो कीजिये, कि इस में कौनसी सिद्धि मिली है।

हमारे विचार से तो निःसंदेह पांचोंबातोंमें अवनति ही हो रही है और हम ऋषि-मुनियोंके उच्च आदर्श से प्रतिदिन दूर दूर जा रहे हैं। इस लिये इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये।

ऋषि कहते हैं कि विद्यासे आत्मसंरक्षण करने की शक्ति बढनी चाहिये, परंतु आज

कलकी विद्यासे हमारे युवकों की स्वसंरक्षण की शक्ति घट रही है। ऋषि कहते हैं कि विद्या ऐसी होनी चाहिये, कि जिससे भोजन प्राप्त करनेका सवाल हल हो जाय, परंतु आज की विद्यासे भूषित या दूषित हुए हुए विद्वान कालेजोंसे बाहर आकर " अब हम आजीविकाके लिये क्या करें ? " इस प्रश्न की चिंतामें दग्ध हो रहे हैं। ऋषि मुनि कहते हैं कि विद्यासे शिक्षित मनुष्य की पराक्रम करने की शक्ति बढनी चाहिये, परंतु आज कल के शिक्षित दिन प्रतिदिन भीरु बन रहे हैं। ऋषि कहते हैं कि विद्यासे तेजस्विता बढती है, परंतु आजकल की विद्यासे शिक्षित पीले, फीके, निस्तेजही दिखाई देते हैं। ऋषि कहते हैं कि विद्यासे आपस का द्वेष कम होता है, परंतु आज कल की विद्यासे आपस में द्वेष बढ रहे हैं, जाति जातियोंमें कलह भडक रहे है और अनर्थ होने तक अवस्था पहुंच रही है! क्या येही लक्षण विद्याके हैं ? इस लिये ज्ञानी लोगोंको इसका अवश्य विचार करना चाहिये और सुधारका उपाय सोचना चाहिये।

शांति, आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य यदि न बढा, तो उस ज्ञान का क्या उपयोग है। विद्या समाप्त करते ही यदि तरुण परलोक को पधारने लगे, तो विद्या किस काम की हुई। इस लिये दोष कहां है, इसका विचार सबकोही करना चाहिये और दोष दूर करनेका अतिशीघ्र यत्न करना चाहिये। इसका इलाज आर्ष प्रणाली का पुनरुज्जीवन करना ही है।

शिक्षाका क्रम निम्न प्रकार होना अत्यंत स्वाभाविक है—

(१) शारीरिक, (२) इंद्रिय संबंधी, (३) मानसिक, (४) बौद्धिक, (५) आत्मिक, (६) सामाजिक तथा राष्ट्रीय और (७) जगत्संबंधी। इसमें शिक्षाका प्रारंभ शरीर से अर्थात् शारीरिक शिक्षासे होता है, इसका कारण यही है, कि शरीर सबसे बाह्य आवरण है, यदि मनुष्य किसी मंदिर में जाना चाहे, तो उसको बाह्य द्वारका प्रवेश प्रथम करना होता है। उसी प्रकार मनुष्यका बाह्य आवरण शरीर है, इसी कारण शारीरिक शिक्षा सबसे प्रथम होनी चाहिये। उसके अंदर इंद्रियां हैं अतः इंद्रियोंकी शिक्षा शारीरिक शिक्षाके पश्चात् होनी योग्य है। इंद्रियों से परे मन है इस कारण मानसिक शिक्षा इंद्रिय शिक्षाके पश्चात् होना अत्यंत स्वाभाविक है, तदनंतर बौद्धिक और तत्पश्चात् आत्मिक शिक्षा देनी चाहिये।

इस रीतिसे अपने अंदर की शक्तियों की उन्नति करनेकी शिक्षा समाप्त करनेके पश्चात् अर्थात् वैयक्तिक शुभ संस्कार होनेके पश्चात् एक व्यक्ति के साथ संबंध बतानेवाले ज्ञानके अभ्यास शुरू होने योग्य हैं, इन शिक्षाओं को ही सामाजिक, राजकीय और संपूर्ण जगत् के संबंध की शिक्षा कहते है। यह शिक्षा क्रम अत्यंत स्वाभाविक, निसर्ग सिद्ध और ऋषियोंका अनुमोदित है। परंतु आज कल इस प्रकार पढाईका क्रम है ही

नहीं, पाठशालाओं में शारीरिक शिक्षा के लिये कोई स्थान है ही नहीं । पाठशाला का शिक्षा विधि देखा जाय, तो वहां प्रारंभ में, मध्यमें और अंतमें पुस्तक रटनाही रटना है, इससे मन के ऊपर अस्वाभाविक बोझ पड़ता है और सब अन्य शक्ति केंद्र अशक्त बनते हैं । यही आज कल हो रहा है । परंतु वैदिक धर्मियोंका भी लक्ष्य इस ओर अबतक गया नहीं । वैदिक धर्मियों ने गुरुकुलादि शिक्षा संस्थायें बहुतसी निर्माण की है और नवीन निर्माण हो रही है । वह सब प्रयत्न आशा बढानेवाला निःसंदेह है, परंतु पाठ्य विषयोंमें भिन्नता होनेके अतिरिक्त वहां भी अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है । परंतु अन्य पाठशालाओं की अपेक्षा वहां की परिस्थिति अधिक आकर्षक है इसमें कोई संदेह नहीं । तथापि अधिक योग्य दिशासे सुधार होनेकी आवश्यकता वहां भी है । आर्ष शिक्षा का क्रम निम्न लिखित सूत्रसे ज्ञात हो सकता है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार -
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ।

योग सू. २ । २९

" यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ अंग है । " ये योग के अंग हैं और योग साधन मानवी शिक्षाके लिये ही है । इसका अधिक स्पष्टीकरण यह है —

(१) **यम, नियम**= इसमें शुद्ध व्यवहार के साधारण नियम बताये जाते हैं। "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ।" ये दस नियम है और इन का पालन करने से मनुष्य नीरोग, तेजस्वी और उच्च बनता है ।

(२) **आसन** = शरीर स्वास्थ्य के व्यायाम, जो अशक्त मनुष्य से लेकर सशक्त मनुष्यको भी लाभदायी हो सकते हैं ।

(३) **प्राणायाम**=अंदरकी जीवन शक्तिको चेतना देनेवाला यह व्यायाम है, इस से शरीर के जीवनकेंद्र शक्तिशाली होते हैं, इंद्रियोंकी शक्ति बढती है और मन का चंचल प्रवाह भी शांतिसे स्थिर होने लगता है अर्थात यह व्यायाम शरीरको तथा मन सहित इंद्रियोंको भी लाभकारी है ।

(४) **प्रत्याहार और धारणा** = मन की स्थिरताके लिये ये अभ्यास हैं ।

(५) **ध्यान** = यह अभ्यास इधर मन की स्थिरताके लिये जैसा है उसी प्रकार उधर आत्मिक प्रसन्नता के लिये भी है ।

(६) **समाधि** = यह अभ्यास आत्मिक शक्ति विकास के लिये है । इस रीतिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा, कि शिक्षा का क्रम जो पूर्वोक्त सूत्र में दिखाई देता है, वह शरीरसे प्रारंभ होकर आत्मातक समाप्त होता है । यही क्रम हमने पूर्व स्थलमें सूचित किया है । इससे स्पष्ट है, कि पाठ शालामें विद्यार्थी आते ही सबसे प्रथम उसको " मनुष्यधर्म " का सर्व साधारण उपदेश होना चाहिये और तत्पश्चात्

"आसन" आदि व्यायाम आयु, अवस्था और शारीरिक बल आदिके अनुरूप करालेना शिक्षक का प्रथम कर्तव्य है। "सूर्य भेदन व्यायाम" और "आसन" इनका उचित अभ्यास हो जाने के पश्चात् यथा विधि साधारण पूरक-कुंभक-रेचकात्मक प्राणायाम हरएक विद्यार्थी से करा लेना चाहिये। इन मेंसे बालकों के लिये तथा बालिका ओं के लिये कई अभ्यास साधारण होंगे और कई विशेष होंगे, इसका विचार स्थानिक शिक्षकों को करना आवश्यक है।

यह विद्याभ्यास की "पूर्व तैयारी" है। शिक्षक तथा विद्यार्थी भी इस बातका अनुभव करेंगे, कि इस पूर्व तैयारी के पश्चात मन ऐसा प्रसन्न हो जाता है, कि जिसमें बोया हुआ विद्याका बीज उसी समय उगने लगता है। क्यों कि सूर्य भेदन व्यायामसे और आसनोंसे संपूर्ण नसनाडीयों के मल दूर होकर प्राणायामसे सपूर्ण शारीरिक और मानसिक केंद्रोंको स्फुरण मिलनेके कारण विद्याज्ञानका प्रवेश विद्यार्थीके मनके अदर सुगमतासे हो सकता है। यह बात आज कल की शिक्षा प्रणालीमें नहीं है और इसी कारण शिक्षित तरुणों में निस्तेजता और निरुत्साह दिखाई देते हैं और शारीरिक शिक्षाके अभाव के कारण ही तरुणोंकी आहुति मृत्युके मुखमें पड रही है।

यह हमने देखा है, कि इतना करनेके लिये अधिकसे अधिक आध घंटे से एक घंटा पर्याप्त होता है, विद्यार्थी भी आनंदसे आसनों को और सूर्य भेदनको करते हैं, क्यों कि उनको तत्काल ही प्रसन्नताका अनुभव होता है। इतना आसन प्राणायाम का थोडासा अभ्यास प्रतिदिन नियम पूर्वक करनेसे न केवल उनको दैनिक उत्साह प्राप्त होता है, प्रत्युत सपूर्ण आयुकी नीरोगता प्राप्त होनेके कारण उनका जीवन भर उत्साह स्थिर रहता है। इस लिये इस शैलीमें जैसा वैयक्तिक वैसाही सामाजिक और राष्ट्रीय लाभ है।

कई लोग कहेंगे कि लडके शामके समय खुली हवामें गेंद बल्ला, क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी आदि खेल खेलेंगे, क्या इससे काम नहीं चलेगा? इस शका का उत्तर यह है कि आजकल विदेशी खेलोंका प्राधान्य हुआ है वह गुलामी मनका द्योतक है। देशी खेल खुली हवामें और खुले मैदान में खेलनेके लिये बहुत अच्छे होनेपर भी विदेशी खेलोंको अपने देशमें उत्तेजन देना सर्वथैव हानिकारक और दासता बढानेवाला है। इस से विद्यार्थियों के मनपर यही परिणाम होता है, कि शरीर स्वास्थ्यके लिये अत्याव श्यक खेल भी हमारे पास नहीं हैं। क्या राष्ट्रीय दृष्टिसे इस प्रकारका परिणाम होना इष्ट है?

तथापि, मान लो, कि खुली हवाके खेल लडके खेलते हैं। परंतु इस में कई आपत्तियां हैं। साधनसामग्री के लिये धनका व्यय करना पडता है और पर्याप्त संख्यामें खेलनेवाले न रहे तो अकेले से

खेला नहीं जाता। इसकारण वे खेल धन वालों के लिये ही उपयोगी हैं। परंतु शरीर स्वास्थ्य तो जैसा धनिकोंके लिये उसी प्रकार गरीबों के लिये भी आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि ये खेल सब विद्यार्थी अवश्य ही खेलते हैं ऐसी बात नहीं है। सौ में पांच भी खेलते नहीं। खेलनेका मन में निश्चय होने परभी आवश्यक स्थान और साधन न होनेके कारण कईयों को अवसर ही नहीं मिल सकता। इत्यादि अनेक आपत्तियां इसमें है।

परंतु आसन और सूर्यभेदन के व्यायाम करनेमें पूर्वोक्त एक भी आपत्ति नहीं है। दूसरे की सहायता के विना ही आसनोंका व्यायाम होता है, इसके लिये व्यय बिलकुल ही नहीं है, बहुत स्थानकी आवश्यकता नहीं है, तत्काल उत्साह बढता है और नस-नाडी की शुद्धता हो जाती है।

यह बात स्पष्टही है कि आसनोंका प्रयोजन और है तथा खुले मैदानमें खेल-नेका प्रयोजन और है। परंतु खेलोंसे सुस्ती आती है और नसनाडीकी मलीनता होती है, वैसी आसनोंसे नहीं होती, यह भिन्नता दोनों व्यायामोंमें है।

इसके अतिरिक्त वृद्ध मनुष्य आसन करके अपना स्वास्थ्य सुरक्षित रख सकता है, परंतु उस अवस्थामें मर्दानी खेल खेलना प्रायः असंभव हो जाता है। इत्यादि अनेक कारणोंसे पाठशाला की शिक्षा प्रारंभ होने के पूर्व थोडा थोडा आसनों और सूर्य भेदन व्यायामों का अभ्यास करना अत्यंत लाभ दायक है। इनके करनेके पश्चात् सायंकाल में खुली हवामें खुले मैदान में पर्याप्त खेलनाभी उपयोगी है ही। देवत्व के लक्षणों में मर्दानी खेल खेलना ही पहिला लक्षण है। (क्रीडाकुशलाः देवाः) मर्दानी खेल खेलनेमें कुशल होना देवत्व का एक लक्षण है। केवल इतने ही से देवत्व नहीं मिलेगा, इसके दूसरे लक्षणों को भी अपनाना अत्यावश्यक है, परंतु यह लक्षण भी उपेक्षणीय नहीं है।

अस्तु, इतने लेखसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पुस्तकों का अभ्यास प्रारंभ होने के पूर्व पाठशालाओंमें आसनों,सूर्य भेदनव्या-यामों और प्राणायामों का यथायोग्य अभ्यास करवाना चाहिये। यदि शिक्षा प्रणालीमें इतना सुधार हो जाय, तो बहुतसे दोष दूर हो सकते हैं और आज कलके तरुणों की शक्तिका नाश नहीं हो सकता।

पाठ विधिमें ब्रह्मचर्य का वायुमंडल उत्पन्न करने योग्य पाठ विधि बनाना चाहिये तथा पाठविधि ऐसा हो कि जिसमेंसे गुजर जानेके बाद ऋषियों के बताये हुए पूर्वोक्त पांच लाभ प्राप्त हो सकें।

इस विषयमें बहुत सा लिखना है, परंतु इस प्रथम लेखमें इतनाही पर्याप्त है। आगे क्रमशः इसपर अधिकाधिक प्रकाश डाला जायगा।

दयानन्द शताब्दिके उपलक्ष्य में पं० अमरदास संगृहीत।

वैदिक उपदेश माला।(१०) सत्य।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयं तन्मे राध्यता-मिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

एक बार एक विद्वान् लेखक ने ऋषि दयानन्द पर लिखने के लिये 'सत्यका दूत' यह अतीव उपयुक्त शीर्षक दिया था। सचमुच दयानन्द सत्य का सन्देश लेकर ही संसार में आये थे। उन्होंने दुनिया में जहां कहीं असत्य देखा उसका खण्डन किया और जहां जो सत्य देखा वह जरूर कहा, फिर चाहें सब संसार उनसे नाराज हो जाय, लोग इंटे बरसायें या जहर भी दे देवें। उन्हें सत्य प्यारा था- सदा प्यारा था और सत्यस्वरूप परमात्मा में भक्ति थी। पिछले लेखमें यह जान चुके है कि सत्य और श्रद्धा बहुत नजदीकी वस्तुयें है सत्य में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। इसलिये श्रद्धालु दयानन्द स्वभावतः "सत्यके दूत" हुवे और जगत् में ईश्वरीय सन्देश फिर गये। सत्यार्थ का प्रकाश करना ही एक मात्र उनके जगत् में उद्देश्य था। हम उनके आर्य समाजमें उनके इस महान् सन्देश का अनुसरण करनेके लिये ही प्रविष्ट हुवे हैं। वे जो हमारे लिये खजाना छोड गये हैं उस में एक चमकता हुवा अनमोल हीरा यह है।

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

यह सब जगत् अटल सत्य नियम से चल रहा है। सबने सत्य स्वरूप तक सत्यमार्ग से ही पहुंचना है। इसीलिये उपनिषद् में कहा है-"सत्यमेव जयते नाऽनृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।"

और इसीलिये सत्य सत्र से बडा धर्म है। सब पुण्य कार्य, सत्यमें समाजाते हैं और सब अधर्म और सब पाप 'असत्य' या 'अनृत' इस शब्द से समझे जा सकते हैं। क्यों कि धर्म और अधर्म अटल सत्य नियमों का पालन करना और तोडना है। जब हम सत्य व्यवहार करते हैं, तब जगत् की सब शक्ति हमारे पीठ पर होती है, हमारे अनुकूल होती है और जब हम थोडासा भी असत्य करते हैं, चाहे हम न जानें, तब हम इस महान् शक्ति को ललकारते है और स्वभावतः दुःख पाते हैं। जो है वह सत्य है और है नहीं वह असत्य है, तो सत्य के विपरीत आचरण करना, व्यर्थ में अपना सिर शिला से टकराना है। यदि हम इस इतनी स्पष्ट बात को समझ जांय तो हम कभी भी असत्य बोलना न चाहें, कभी भी असत्य न सोचें और कभी असत्य न करें।

संसारमें असत्य धोखे से भी [illegible] दिखायी देती है। परन्तु यह सफलता क्षणिक

होती है और असलमें अवास्तविक होती है। फिरभी यह जितनी सफलता दिखायी देती है वह इस लिये होती है कि असत्य सत्य का रूप धर आया होता है। कोरे नंगे असत्य से किसी को धोखा नहीं दिया जा सकता। यदि सत्य के रूप धरने से ही कुछ क्षणिक सफलता मिलती है तो असली सत्य द्वारा ही क्यों न चिरस्थयी सफलता प्राप्त की जाय।इस धोखेसे मनुष्यको सदा बचना चाहिये।

यह ठीक है कि सत्य का जानना भी बड़ा कठिन है। परन्तु यह तभी तक है जब-तक कि सत्य से प्रेम नहीं होता। जिसे सत्य की लगन है,यही जिसके लिये दुनियामें एक मात्र चीज है; उसके पास तो सत्यप्रेमी जन की तरह भागा आता है। उसके लिये सत्य बड़ा आसान होजाता है, तो बात प्रेम की है। सत्य में अपना प्रेम पैदा कीजिये, सत्य से अपना अटूट नाता जोड़ लीजिये। यह एक ही वस्तु हमें हमारे उद्देश्य तक प-हुंचाने के लिये पर्याप्त है।

यह जीमें आता है और उचित प्रतीत होता है कि यदि आजकल के जगत् में विद्यमान एक महात्मा के वचन जिसका की सत्य ही प्राण है और सत्य के लिये जो रहा है उसके कुछ वचन उद्धृत कर दूं। मैं आशा करता हूं जैसे मुझे उन वचनों के पढ़ने से सत्य के लिये उत्साहना मिलती है वैसे ही पाठकों को भी प्राप्त होगी।

कहते हैं कि, एक न्यायाधीश ने प्रश्न किया कि 'सत्य क्या है', । उसका उत्तर उसे नहीं मिला। पर हिन्दुधर्म ग्रन्थों के अनुसार सत्य के लिये हरिश्चन्द्रने सर्वस्व अर्पण कर दिया और खुद भी पुत्र सहित चाण्डाल के हाथ बिक गये, इमाम हसन और हुसैनने सत्य के खातिर अपने प्राण दे दिये। ऐसा होते हुवे भी उस न्यायाधीश को जवाब नहीं मिला कि 'सत्य क्या है'।

"हरिश्चन्द्र जिसे सत्य समझते थे उसके लिये तरह तरह के संकट सहकर अमर होगये। इमाम हुसैन ने जिसे सत्य जाना उसके लिये अपना प्यारा देह तक खो दिया, पर हरिश्चन्द्र और इमाम हुसैन का जो सत्य था वह हमारा सत्य हो या न भी हो। क्यों कि हर एक व्यक्ति का सत्य परिमित अथवा सापेक्ष सत्य होता है।

"पर इस परिमित सत्य के बाद शुद्धनिरपेक्ष सत्य तो है ही। जो अखण्ड और सर्वव्यापक है वह अवर्णनीय है। क्यों कि सत्य ही तो परमेश्वर है अथवा परमेश्वर ही तो सत्य है।

"इस लिये जिसने सत्य के सच्चे स्वरूप को पहिचान लिया है, जो 'काया वाचा मनसा' सत्याचरण ही करता है उसने पर-मात्मा को पहिचान लिया है। और इसी लिये वह त्रिकालदर्शी भी होता है। वह जीवन्मुक्त है।

"जिसका जीवन सत्यमय है वह तो स्फटिकमणि जैसा है। असत्य तो इसके पास एक क्षणभर भी टिक नहीं सकता। सत्या-चरणी को कोई ठग भी नहीं सकता। क्यों कि उसके सामने दूसरों को असत्य भाषण

करना असंभव होना चाहिये । संसार में सब से अधिक कठिन व्रत सत्य व्रत ही है। सत्य स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध है। पर मैं जानता हूं कि ऐसा सत्याचरण इस विषम कालमें कठिन है, पर अशक्य नहीं है। जो पूरा सत्य वादी है वह तो अनजानमें भी न असत्य कहता है, न करता है। वह असत्य कहने और करने में असमर्थ हो जाता है। सत्य कहना और करना उसका स्वभाव हो जाता है।

"हमें हर एक कार्यमें सत्य ही का दृढता पूर्वक प्रयोग करना चाहिये। सत्यपर पूरी श्रद्धा रखनी चाहिये और जो सत्य मालूम हो उसे वैसा ही कहने में किसी से न डरना चाहिये। सत्य के अभाव में निर्दोषता असंभव है। सत्याचरण ही हमारी मुक्ति का द्वार है।

"सत्य शब्द की व्युत्पत्ति सत् से है जिसका अर्थ है 'होना'। केवल परमात्मा ही सदा तीनों कालमें एकरूप है। इस सत्य की जिसने भक्ति की है,इसे अपने हृदय में बिठा दिया है उस पुरुष को मेरा सौ सौ बार प्रणाम है।

"मैं तो यह कभी नहीं मानता कि अत्युक्ति से कभी जनता का थोडा भी भला हो सकता है। अत्युक्ति तो असत्यका ही एक रूप है। असत्य से यदि प्रजाकी उन्नति होती हुई दिखाई दे तो भी हमें तो उसका त्याग ही करना चाहिये। क्यों कि वह उन्नति आखिर अधनति ही सिद्ध होगी।

"आधे सत्य को मैं ढेढ असत्य कहता हूं क्यों कि वह दोनों को भ्रममें डालता है।

"मेहतर के शरीरपर जो मैला लगता है वह तो शारीरिक, स्थूल होता है। उसे तो हम फौरन धो सकते हैं। पर अगर किसीपर असत्य, पाखण्ड आदिका मैल चढजाय तब तो उसे धो डालना बहुत ही कठिन बात है। क्यों कि वह मैल बहुत सूक्ष्म होता है। अगर कोई अस्पृश्य कहा जाय तो असत्यवादी और पाखण्डी लोगों को भले ही ऐसा कह सकते हैं।

"जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना इसीका नाम "सत्याग्रह" है। तो जनता की सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक उन्नति जितनी सत्याग्रहमें देख सकता हूं उतनी और किसी में नहीं।"

तो आइये आजसे हम सत्य का व्रत धारण करें और वेदमन्त्रद्वारा इसके लिये परमात्मा से अटल साहाय्य की प्रार्थना करें।

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

हे ज्ञानस्वरूप, हे सब व्रतों के स्वामी! मैं यह व्रत धारण करूंगा। यह आपके संमुख प्रतिज्ञा करता हूं। मैं इस व्रत को कर सकूं। मेरा यह व्रत करा ओ। मैं अनृत को छोडता हूं और सत्य को प्राप्त होता हूं।

ऐतरेयब्राह्मण में तूष्णींशंस सूक्त।

(लेखक—श्री० पं. परमानंद उपदेशक)

ब्राह्मण ग्रन्थ क्या है? और इन का वैदिक साहित्य में क्या स्थान है? इस विषय पर बहुत मतभेद चला आता है, कई लोग तो मंत्र और ब्राह्मणभाग दोनों को वेद मानते हैं! उनके साथ अभी इस लेखके प्रयोजन के लिये हमारा कोई विवाद नहीं, परंतु कई और महानुभाव हैं जो ब्राह्मणों को यज्ञ विनियोगपरक ग्रन्थ मानते हैं, और यह समझते हैं, कि इनग्रन्थों द्वारा वेद मंत्रों को यज्ञों में विनियुक्त किया जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों का भाष्यकार सायण इस विचार का प्रतिनिधि है। भारत के आधुनिक पण्डित भी प्रायः ऐसा ही समझते हैं और उन की देखा देखी यूरोपियन विद्वानों का भी यही मत आ ठहरा है, यूरोपियन विद्वानों में से जहां तक मुझे स्मरण पड़ता है प्रो० मैकडानल महाशयने इस से कुछ अधिक भाव गृहीत किया है और हर्षका विषय है, कि स्वर्गवासी पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी इस परम्पराजाल से बाहर निकलनेका यत्न करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण पर विचार करते हुए आप अपने ऐतरेयालोचन के पृष्ठ दो पर इस प्रकार लिखते हैं:—

"वेदार्थवित्तमेन ब्राह्मणेन प्रोक्तं यज्ञविध्यनुस्यूतं मंत्रभाष्यमेव ब्राह्मणमिति, ...वस्तुतस्तु मंत्राणां हि ब्राह्मण-कालतोऽपि बहुपूर्व प्रादुर्भूतत्वात् ब्राह्मणकाले तदर्थप्रत्यय-संशयः संभाव्य एवेति ब्राह्मणकाराणां ब्राह्मणानां तदर्थप्रकाशनेन तत्तात्पर्या-द्यारव्यानाय च प्रवृत्तिः समुत्पन्ना, तत एवमानि पैग्यकौषीत-कैतरेयादीनि आदिवेदभाष्याणि संपन्नानि इति वक्तुं युज्यत एव॥

अर्थः- वेदार्थ को सबसे अधिक जानने वाले ब्राह्मणों द्वारा कहा हुआ यज्ञविधि से युक्त और इसके अनुकूल वेदमंत्रों पर जो भाष्य है, वही ब्राह्मण है, बात तो यह है कि ब्राह्मणों के काल से वेद मंत्र बहुत काल उत्पन्न हुए थे, ब्राह्मणों के काल में उनके अर्थ ज्ञानमें संशय की संभावना हुई इसी कारण यह पैग्य, कौषीतक और ऐतरेयकादि वेदों पर सब से पहले भाष्य बन गए यह कहना उचित है क्यों कि इनकी प्रवृत्ति वेदार्थ प्रकाशन के लिये हुई।"

आगे चलकर आप ब्राह्मण ग्रन्थों में नाना प्रकार का विज्ञान भी स्वीकार करते हैं और वेदमंत्रों को अध्यात्म की अपेक्षा आधिदैवत बहुल मानते हैं और इस बात पर शोक प्रकट करते हैं, कि सर्व वेदभाष्यकार सायण तथा अन्यान्य भाष्यकारों ने वेद (और तदनुकूल ब्राह्मण ग्रन्थों)के केवल याज्ञिक अर्थ किये हैं। आप के शब्द बडे मर्म वेधक है, अतः उन्हें अक्षरशः यहां दिया जाता है, आप लिखते हैं–

इन्तैवंपदार्थविज्ञानशिक्षोपयोगीनि बहूपदेशपूर्णानि चैतादृशान्युत्कृष्टतमान्यधिदैवतव्याख्यानान्यपहाय परमात्मज्ञानपिपासूनां तर्पणानि अध्यात्मव्याख्यानानि च विलोक्य आधियज्ञव्याख्यानान्येवाभाषत सर्ववेदभाष्यकारः सायणाचार्यस्तथाऽन्येऽपि। उक्तं च तेन सायणन ऋक्संहिताभाष्येऽस्य वामीयसूक्तव्याख्यानारंभे 'एवमुत्तरत्राप्याधिदैवतपरतयाऽध्यात्मपरतया च योजयितुं शक्यम्, तथापि स्वारस्याभावात् ग्रन्थविस्तारभयाच्च न लिख्यते; यत्र द्वासुपर्णेत्यादौ स्फुटमात्मात्मिको ह्यर्थः प्रतीयते तत्र तमेव प्रतिपादयामः'(१।१६४।१)वस्तुतो ध्वांताच्छन्नविज्ञानकालिकानामशेषशेमुषीमतामपि तेषां सायणमहीधरादीनामधिदैवतार्थतोऽपि यत्रा ...तं प्रकृतविज्ञानं मनं स्फुरितं सम्यगिति तच्छोच्यमेवाऽभवत्"

अर्थ– दुःख की बात है, कि इस प्रकारके पदार्थ विज्ञान की शिक्षा में उपयोगी और बहूपदेशपूर्ण ऐसे ऐसे उत्तम आधिदैवत व्याख्यानों को छोड कर और परमात्मज्ञान के प्यासों को तृप्त करनेवाले अध्यात्मव्याख्यानोंका लोप करके अधियज्ञ (याज्ञिक) अर्थ ही सर्व वेद भाष्य कार सायणाचार्यने किया इसी प्रकार औरों ने भी यही शैली अवलम्बन की, सायणाचार्यने स्वयं अपने ऋग्वेद भाष्य में लिखा है (ऋ. १।६४।१) 'इस प्रकार आगे भी मंत्रों को अध्यात्म और आधिदैवत अर्थ में लगाया जा सकता है, तो भी अपनी रुचि के न होने और ग्रंथके विस्तार भय से नहीं लिखा जाता, जहां 'द्वासुपर्णा'इत्यादि मंत्र में स्पष्ट ही अध्यात्मिक अर्थ प्रतीत होता है। वहां वही अर्थ हम लिखेंगे, वास्तव में अन्ध कार से ढके हुए विज्ञानके काल में जन्म होनेके कारण बडे बडे बुद्धिमान् सायण महीधरादिकों को अधिदैवतार्थों से मंत्रों में कहा हुआ प्रकरण प्राप्त विज्ञान नहीं सूझा, यह शोक का विषय है।"

इसी ऐतरेयालोचन में पंडितजीने सायण और महीधर के हास्य जनक और कहीं कहीं अश्लील अर्थों का निराकरण करते और इनके अनृतेतिहास का खण्डन करते हुए ऐतरेय और दूसरे ब्राह्मणों में निम्न लिखित विज्ञानोंका उपदेश स्वीकार किया है:–

१ छोटी आतीयों को मंत्र दर्शन तक का अधिकार(ब्राह्मण-ग्रंथ प्रवचन-तक का अधिकार तो सायणको भी अभिप्रेत है जो ऐतरेय को शूद्रपुत्र बतलाता है)
२ सार्वजनीन प्रीतिभाव।
३ आर्य भी अनार्य हो सकते थे। (ऐ० ७। ३। ६)
४ मनुष्यकी ११६ वर्षकी मध्यम आयु। (छा० ब्रा० ५। १६। ७)
५ जाति अथवा वर्ण गुण कर्मों द्वार होता है। (ऐ० १। २। ३)
६ चातुर्वर्ण्य के कर्तव्य कर्म और धारणीय गुण।
७ चातुर्वर्ण्यके बलकारक भोजन (ऐ० ७। ५। ३—६)
८ चातुर्वर्ण्यकी आयुष।
९ वाणी और सत्य की महिमा॥ (ऐ० ३।१। १–२;३।३।१३;४। १।१; १।१। ६;५।२।९;४। १।१
१० पितृऋण संतानोत्पत्ति (ऐ०)७।३।१)
११ स्वयंवर और स्त्रीशिक्षा(५।५।४
१२ घर घर अग्नि होत्र (७। २। ९) सामग्री का प्रमाण (१।५।२)
१३ स्नान का विधान, न करने पर प्रायश्चित (७। २। ८)
१४ घृत बहुत हो, घृत खाकर ही मंत्र बोलना चाहिये(४। २। १)
१५ देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ न करनेवाला अनद्धा पुरुष(असत्य पुरुष)है(७।२।८)
१६ मनुष्य के तीन जन्म (छा. २।५।१)
१७ मृत्यु और पुनर्जन्म (छा. १६। ७। २। १-५) विद्या कर्म और पूर्वसंस्कार साथ जाते हैं।
१८ मनुष्य को मनुष्य क्यों कहते हैं?
१९ अतिथि सत्कार (ऐ. ४।१।४)

२० यजमान और ऋत्विक दोनों सत्पात्र हों तो यज्ञ सफल होता है। कुयज्ञ तीन प्रकार का होता है, जग्ध, गीर्ण, वान्त (४।४।३॥ ३। ५। २) विद्वान् पुरोहित होना चाहिये (८। ५। ३)। यज्ञमें दक्षिणा (३। ५। ९) लौटाई हुई दक्षिणा न ले (६। ५। ९) सोना और हाथी तक दक्षिणा में देने चाहिये (८। .९)

२१ वाणिज्य के वास्ते समुद्रयात्रा। (६। ४। ५)

२२ सार्वभौम राजा हो(८। ४। १)

२३ नगरों की प्राकार प्रबल शत्रुके आक्रमण पर परस्पर रक्षा के लिये नागरिकों की परस्पर प्रतिज्ञा घी को छूकर (१। ४ ७) तानूनप्त्र (प्रतिज्ञा बद्ध) के साथ द्रोह न करे।

२४ सेना पति सेना के ३ भाग करके शत्रुपर आक्रमण करे (३। ४। १)

२५ उपभोक व्यवहार, बढ़ई, सूई आदि (४। ४। ५॥ ८। १। १)

२६ पुरुषार्थ पर चार श्लोक, पुरुषार्थी के पाप चौरा हि में श्रमसे मरे हुए सो जाते हैं, खड़े हुए, बैठे हुए, सोए हुए पुरुषका

ऐश्वर्य भी सो, बैठ और उठ जाता है, निद्राही कलियुग है, बिस्तरे पर बैठे रहना द्वापर है, खडे होना त्रेता और चलना फिरना कृत युग है, पुरुषार्थी को ही मीठे फल खाने को मिलते हैं, सूर्य नहीं थकता, परमात्मा भी चलने फिरने वाले, अपनी सहायता स्वयं करने वाले का सखा है, दूसरों पर आश्रित मनुष्य पापी है, लक्ष्मी अनुद्यमी के लिये नहीं है,

२७ सूर्योदय और सूर्यास्त का विज्ञान। (३ । ४ । ६)

२८ सूर्य का समस्त लोक धारण। (तै. १ । २ । १३ । २)

२९ चन्द्रमा में कलंक पृथिवी की छाया है, यह संसार देवयजन, कर्मभूमि है। (ऐ. ४ । ४ । ५)

३० जल में विद्युच्छक्ति और गर्भ विद्या (२। ५। ७; ६ । ५ । ५; ३। १ । २; ५ । २ । १०)

३१ मुट्ठा बांधकर जन्म (१ । १ । ३) पुनर्जन्म (२ । ५ । १)

३२ वायु मनुष्य का प्राणस्वरूप है, सूर्योदय के समय वायु चलता है (१। २ १)

३३ अग्नि ही भोजन उत्पन्न करता और पकाता है। (२ । ५ । ९

३४ मृतकों का दाह। (६ । ५ । ६)

३५ जल अमृत है। (८ । ४ । ६)

३६ शरीर (आत्मा)का ज्ञान (६।३।६) मनुष्य शरीर केप भाग (२।२। ४)

३७ घृत मनुष्यों का, दुग्ध मिश्रित घृत देवताओं का, और कुछ तपाया हुआ घी पितरों का और मालम गर्भों का भोजन है (१ । १ । ३)

३८ गौ क्या क्या देती है (शत. ३। । ३)

३९ अंजन आखों का तेज है (३।१।३)

४० वर्ष के १२ मास, ३६० दिन, ७२० अहोरात्र (१ । १ । १; ३ । १ । १; २ ।२ । ७)

४१ चित्ररचना, शिल्प (श. ब्रा. ३ । २ । १ । ५)

४२ चन्द्रलोक पृथिवीसे २४००० कोस है,

भूमिका बहुत अधिक लंबी होगई है, अतः अब संक्षेपसे एक बात और कह कर हमें प्रकृत विषय पर आना है, वह बात यह है, कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ब्राह्मणों को वेदव्याख्यान रूप ही मानते हैं, और यह तो स्वीकार करना ही पडेगा जैसा कि इन की शैलीसे स्पष्ट हो जाता है, कि ४ वेदों के ४ ब्राह्मण वेदों के दूसरे दर्जेपर अति प्राचीन और दूसरे दर्जे पर ही प्रमाण ग्रंथ भी हैं, अतः पं. सत्यव्रत सामाश्रमी का उपर्युक्त अनुमान ब्राह्मण प्रयोजन के विषय में सर्वथा ठीक प्रतीत होता है, पंडितजी और स्वामिजी के अतिरिक्त सायण को भी यह मानना पडता है, कि ब्राह्मण ग्रंथ वेदके व्याख्यान रूप और पश्चाद्भावी हैं, सायणाचार्य का लेख इस प्रकार है:—

(क्रमशः)

स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१)य. अ. ३० वीं व्याख्या। नरमेध।
मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।१)
(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वधर्म।
" एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)
(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण।
" सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)
(४) देवताविचार। मू. ≡)
(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥)
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १)
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।)
(५)योग साधन की तैयारी। मू. १)
(६) योग के आसन। मू. २)
(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=)

[४] धर्म-शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक ≡)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१)वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम--निबंध--माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।)
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू.॥)
(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय। मू ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता। मू.॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू.. -)
(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. ≡)
(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)
(१७) आत्मशक्तिका विकास। मू. ।-)

[७]उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ।।=)
(२) केन उपनिषद ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

विशेषांक

Registered No B. 1463

वर्ष ६, अंक २

क्रमांक ६२

माघ सं. १९८१

फर्वरी स. १९२५

वैदिकधर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक-सचित्र-मासिक-पत्र ।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि सातारा)

वार्षिकमूल्य— म० आ० से ३॥) वी पी. से ४) विदेशके लिये ५)